गुरुवर्य श्री ईश्वर स्वरूप जी की जीवनी पर एक विहंगम दृष्टि

प्रभा देवी प्रभाकर

शारिका पब्लिशिंग दिल्ली द्वारा प्रकाशित

भूमिका

कई वर्षों की यह साध मन में थी कि हम अपने गुरुवर्य के विषय में जनता को कुछ परिचय दें। श्रीनगर के निवासी तो भगवान् से परिचित ही हैं किन्तु वे भी बचपन की क्रीड़ा तथा देवी जी का इनके साथ रहने के अलौकिक चमत्कार से अनभिज्ञ हैं। संक्षिप्त शब्दों में इस इच्छा की पूर्ति का सुअवसर मिला अतः मन में प्रसन्नता हुई। वैसे भगवान का बचपन से आज तक पूर्ण विवरण यदि दें तो पूरा ग्रन्थ बने पर हमने विचारा कि अभी गागर में सागर भरना ही पर्याप्त है। कई सज्जनों के अनुरोध से यह प्रयास किया गया है। हमें आशा है कि महाराज जी के सत् शिष्य भी इस संक्षिप्त जीवनी को पढ़ कर हर्षित होंगे। ऐसे होगा तो लेखिका का प्रयत्न सफल होगा। महाराज जी की सहर्ष अनुमति से ही यह जीवनी बनी है।

श्री गुरुवे नमः

गुरुवर्य श्री ईश्वर-स्वरूप जी महात्मा (लक्ष्मण जी) की जीवनी पर एक विहंगम दृष्टि

प्रायः देखा जाता है कि महान् आत्माओं की जीवनी में प्रारम्भ से ही एक विशेष विशेषता रहती है जिसके फल-स्वरूप वे जनता में आदर्श माने जाते हैं। वे तो अपनी आत्मा को उभारने के लिए जन्म लेते हैं साथ ही भक्तों का उद्धार भी कर देते हैं।

महाराज जी का शुभ जन्म आस्तिक धारणा रखने वाले सारस्वत ब्राह्मण श्री नारायण जी रैणा जो श्रीनगर में फतेकदल तीसरे पुल के आस पास रहते थे हुआ है। इनकी माता का नाम अरण्यमाली था। श्रीनगर में पहले पहल 'हवसबोटों' का निर्माण नारायणदास जी ने ही किया है। साथ ही साईकल पर चढ़ना तथा अंग्रेजों की वेश-भूषा कोट का पहनना भी इन्हीं महाशय के द्वारा प्रथम हुआ है।

नारायणदास जी के कुल पुरोहित श्री राम जी थे। ये पुरोहित जी प्रसिद्ध 'मनकाक जी मोंगा' के शिष्य थे। रामजी गृहस्थी थे। दैववशात् भूचाल के आने से इनकी स्त्री तथा पुत्र मकान के नीचे दब गये और केवल राम जी बच गये। वैराग्य तथा प्रभु-अनुग्रह से इन्होंने पुनः विवाह न किया और ये अपने यजमान् श्री नारायणदास जी के पास रहने के लिए आ गये। उन्होंने इन्हें अपने पूर्वजों के मकान में जो फतेकदल की सड़क के पास ही था, रहने के लिए सुविधा करवा दी। अतः श्री राम जी 1884 ई० में इस मकान में रहने लगे। ये मकान अब 'श्रीराम त्रिकाश्रम' के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वतन्त्र मकान मिलने पर श्री राम जी अनन्य रूप से अभ्यास में तल्लीन रहने लगे। फल यह हुआ कि किन्हीं वर्षों में ही इन्हें समाधि का लाभ होने लगा। अब श्रीराम जी दिन के एक बजे से चार बजे तक भक्तों के सम्मुख ही समाधि में प्रविष्ट हो जाते थे। नारायणदास जी

कहते थे कि पहिले आधे घंटे में उनके सामने किसी प्रकार का शोर न होना चाहिए था। समाधि में रहने के बाद यदि वहां ढोल भी बजते तो उन पर प्रभाव नहीं पड़ता था। ऐसे थे ये सिद्धहस्त योगी। इनके मुख्य शिष्य श्री महताब काक जी थे। जो बाल ब्रह्मचारी तथा पूर्ण वैराग्य से सम्पन्न थे। वे इनकी सेवा प्राण-पण से करते थे। यही महताब काक जी हमारे गुरुदेव के गुरुवर्य थे। कुछ वर्ष के पश्चात् श्री नारायणदास जी के यहां चार कन्याओं के पश्चात् वैशाख कृष्ण द्वादशी संवत् 1964 विक्रमी तथा ईसवी 1907 में दिन के चार बजे हमारे पूज्य गुरुदेव का जन्म हुआ। कहते हैं उस समय महात्मा अत्यन्त आनन्द में नाचने गाने लगे। नारायणदास जी से उसी समय उन्होंने भविष्य वाणि की कि यह पुत्र शिव-भक्त तथा पूर्ण योग से सम्पन्न होगा। नामकरण संस्कार के दिन जब उनसे नाम पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं राम हूं तो यह लक्ष्मण है। तब सभी परिवार ने सहर्ष इनका यह नाम स्वीकार किया।

पुत्र-रत्न दिन प्रतिदिन चन्द्र-कला की भांति बढ़ते गये। जब महाराज जी तीन वर्ष के हुए तो अपने पूर्व-संस्कारों के कारण स्वयं मिट्टी को गूंध कर शिवलिंग बनाया करते थे और उस पर फूल व जल बड़ी तन्मयता से चढ़ाते थे।

इस प्रकार अटपटी वाणी में 'पूजाये पूजाये' की रट लगाते थे। इनकी ऐसी क्रीडा को देख कर सभी विस्मित हो जाते थे।

पांच वर्ष की आयु में महाराज जी प्रातः सायं चौकड़ी मार कर बैठ जाते थे। कभी-कभी आंखें बन्द किए हुए ही भूमि पर गिर जाते थे साथ ही कभी घबरा कर चौंक जाते थे। माता-पिता बालक की यह दशा देख कर घबरा गये। वे स्वामी रामजी के पास बालक को ले गये। वहां भी बालक जब बैठे-बैठे नीचे को गिर गये तो उन्होंने परामर्श दिया कि ऐसे समय इनके सिर में थोड़ा सा मक्खन धीरे-धीरे मलना चाहिए इससे इनका प्राण-वायु स्वयं संचार करने लगेगा। इसमें भय की कोई बात नहीं। ये पूर्व जन्म के योग भ्रष्ट हैं। एक बात अवश्य है इनका

यज्ञोपवीत संस्कार शीघ्र ही करना चाहिए उससे इनकी ध्यानावस्था स्थिर हो जायेगी।

बालक महोदय जब नौ वर्ष के हुए तो पिता जी ने इनका यज्ञोपवीत संस्कार बड़ी धूम-धाम से किया। स्वामी राम जी ने स्वयं यज्ञोपवीत पहनाया। अब तो बालक प्रातः होते ही संध्या-वन्दन तथा गायत्री का जप स्वामी रामजी के आदेशानुसार करने लगे। स्मरण रहे यह ईसवी संवत् 1913 था जब महाराज जी का उपनयन संस्कार हुआ।

इसी वर्ष नारायणदास जी ने महाराज जी को पाठशाला में प्रविष्ट कराया। कहते हैं पाठशाला जाते समय बालक महोदय अपने साथ आसन-पट बैठने के लिए ले जाते थे। जब सभी बालक खड़े होकर प्रार्थना करते थे तो ये अपने आसन पर पद्मासन लगाकर बैठ जाते थे। प्रार्थना की समाप्ति पर बालक भी चुपके से अपनी कक्षा में चले जाते थे। एक दिन इनके अध्यापक ने बालक से पूछा कि आप को नेत्र बन्द करके क्या दिखाई देता है। बालक ने कश्मीरी भाषा में सरल शब्दों में कहा कि "मैं बडि बोड" यानी बड़े से बड़े को देखता हूं। यह सुन कर अध्यापक ने इन्हें गले लगाया।

बालक के ग्यारहवें वर्ष में विद्यालय में एक अलौकिक घटना घटी। स्कूल के अध्यापक ने सभी लड़कों को व्यायाम करने की आज्ञा दी। सभी बालक तो व्यायाम करने के लिए गये पर बालक महोदय न तो स्वयं गये साथ ही अन्य लड़कों को भी बहकाने लगे कि हम व्यायाम करने में समय क्यों नष्ट करेंगे। यही समय प्रभु-भजन में लगायेंगे। अध्यापक ने बालक की इस नटखटी को देखा तो उनसे रहा न गया। उन्होंने बालक को बुलाकर उनके हाथ पर पच्चीस बार सोटी से मारा। बालक रोते-रोते अपने घर चले गए। इधर जब अध्यापक अपने घर गए तो उसी दिन उनको ज्वर का प्रकोप हुआ। पूरे पच्चीस दिन वे शय्या पर पड़े रहे। तब उन्हें पूर्ण रूप से निश्चय हुआ कि ये बालक महोदय साधारण बालक नहीं है। पाठशाला जाने पर अध्यापक ने उनसे क्षमा मांगी।

बालक के बारहवें वर्ष में यानी 1918 ई० में नारायणदास जी को किसी विशेष कार्य वश कलकत्ता जाना पड़ा। वे बालक महोदय को भी अपने साथ ले गये। देहली के रेलवे स्टेशन पर उनके साथ एक मनोरंजक घटना घटी। भीड़ के कारण शीघ्रता में नारायणदास जी पुरुषों के डिब्बे में चढ़ने के बदले स्त्रियों के डिब्बे में बैठ गये। रेल चलने लगी। एकान्त तथा रेल के चलने के शब्द ने बालक को एकाग्रता प्रदान की। दो तीन स्टेशनों के बाद स्त्रियों ने अन्दर आने का आग्रह किया, किन्तु वहां पुरुषों को बैठा देख कर उन्होंने स्टेशन मास्टर से शिकायत की। स्टेशन मास्टर ने आते ही नारायणदास जी को पुरुषों के डिब्बे में बैठने के लिए विवश किया। नारायणदास जी ने विनीत भाव से उन्हें कहा कि मेरा बालक ध्यान में बैठा है मैं इसे छोड़ कर कैसे जा सकता हूं। स्टेशन मास्टर ने सान्त्वना दी कि हम बालक के लिए दस मिनट रेल रोक देंगे यदि बालक व्युथान में नहीं आयेंगे तो मैं इनके पास बैठा रहूंगा, आप नियमानुसार पुरुषों के डिब्बे में जाकर बैठ जायें। दस मिनट रेल रोकी गई किन्तु बालक व्युथान में न आये तब पिता जी तो सामान लेकर वहां से पुरुषों के डिब्बे में बैठ गये। स्टेशन मास्टर बालक के पास बैठे रहे। दो चार स्टेशनों के बाद जब बालक व्युथान में आये तो पिता जी को पास में न देख कर घबरा गया। स्टेशन मास्टर उन्हें अति प्रेम से पिता जी के पास ले गये और उन्हें कहा कि यह आपका होनहार बालक भावी जीवन में महान सन्त बनेगा।

तेरहवें वर्ष में पिता जी ने महाराज जी के विवाह के लिए प्रयत्न करना शुरू किया। महाराज जी के कानों तक जब यह बात पहुंची तो महाराज जी ने स्पष्ट शब्दों में पिताजी से कहा कि हम आजन्म ब्रह्मचारी बने रहेंगे। अतः विवाह का प्रयत्न करना व्यर्थ है। यदि इतना कहने पर भी आप हमें बाध्य करेंगे तो हम घर छोड़ कर चले जायेंगे। बालक की रोष-पूर्ण वाणी को सुन कर फिर पिता जी ने विवाह करने के लिए बाध्य नहीं किया।

इसी वर्ष महाराज जी के पिता नारायणदास जी अति बीमार हो गये । यहां तक कि उनके जीने की आशा न रही । अपनी दशा देख कर पिता जी ने रुग्णावस्था में ही बालक को स्कूल छोड़ने पर बाध्य किया । बालक महोदय ने इसी वर्ष मिडल की परीक्षा दी थी और वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे । पिता जी की आज्ञा पालन करने के फल-स्वरूप उन्होंने पाठशाला जाना छोड़ दिया । अब तो वे पूर्ण रूप से अपने पिता जी के हवसबोट बनाने के कारखाने में जाकर 'डयेक चियर' पर जाकर बैठ जाते थे और अपना अभ्यास भी इसी मिल में करते थे । प्रभु की लीला ऐसी हुई कि नारायणदास जी ठीक होने लगे । उन्होंने अब पूर्ण रूप से अपने कारखाने का उत्तरदायित्व महाराज जी के कंधों पर सौंपा और स्वयं ऊपरी देख भाल करने लगे ।

महाराज जी भी मन में यही चाहते थे । स्वतंत्रप्रिय स्वभाव तो था ही अत: कारखाने में बैठ कर खूब अभ्यास करने लगे । भगवद् प्रेरणा से उन्हें एक दिन विचार उत्पन्न हुआ कि क्यों न हम अभ्यास के साथ साथ किसी योग्य विद्वान के पास जाकर शास्त्र का अध्ययन भी करें । उन्होंने पिता जी से अपनी हार्दिक इच्छा को प्रकट किया । पिता जी ने सहर्ष मान लिया और वे उन्हें श्रीराम जी के आश्रम में ले गए । श्रीराम जी तो इतनी अवधि में परम-धाम को चल बसे थे । उनके आसन को श्री महताबकाक जी ने सुशोभित किया था । सन् 1920 ईसवी में महाराज जी ने महताबकाक जी से श्री गीता जी का अर्थ सहित अध्ययन प्रारम्भ किया । अध्ययन के साथ साथ ही उन्होंने महाराज जी को अभ्यास के कई मर्मों को सुलझाया । अब तो महाराज जी निश्चिन्त होकर 'मारबल' के कारखाने में ही मजदूरों से कार्य करवाते रहते और साथ ही अपने अभ्यास में भी लवलीन रहने लगे । फल यह हुआ कि महाराज जी का मन बाह्य व्यवहार से ऊबने लगा । वे अब अधिक समय अपने गुरुदेव श्री महताबकाक जी के पास व्यतीत करने लगे । इधर पिता जी के कारखाने में ढील होने लगी, वे पुत्र को डांटने डपटने लगे । स्वभावत: महाराज जी

का मन उदास तथा द्विविधा में फस गया। वे अपनी समस्या को सुलझाने के लिए अपने गुरुवर्य के पास गये। श्री महताबकाक जी ने सान्त्वना देते हुए कहा कि घबराने से क्या होगा ? व्यवहार में ही अभ्यास-तत्पर बने रहो महाराज जी उनका उत्तर सुन कर घर लौट आये।

किसी ने सत्य कहा है—पर-वैराग्य किसी के परामर्श की प्रतीक्षा नहीं करता। ठीक यह बात महाराज जी के विषय में लागू हुई। घर पहुंचते ही आप पर-वैराग्य के सांचे में ढल गये और घर को त्यागने की विधि सोचने लगे। सन् 1929 ईसवी में प्रातः चार बजे महाराज जी अपने आसन पट को बगल में रख कर अंगनाई में पहुंचे। उस समय महाराज जी की माता अपनी पौड़ियों में लीपन लगा रही थी। अपने पुत्र को जाते हुए देख कर वह पूछ बैठीं कि इतनी जल्दी कहां जा रहे हो। महाराज जी ने धीमे स्वर में कहा कि मैं गुरुमहाराज के पास जा रहा हूं। समीचीन उत्तर सुनकर माता चुप होकर अपने घरेलू काम में लग गईं। बारह बजे जब भोजन का समय हुआ तो पिता जी ने पुत्र को ढूंढा। घर में न देख कर श्री महताबकाक जी के पास राम आश्रम-में देखने के लिए नौकर को भेजा किन्तु वहां महाराज जी के न होने पर सभी घबराये। सभी सम्बन्धियों के पास भी नौकर को भेजे किन्तु कहीं न मिलने पर सभी परिवार व्यथित हो गया। माता जी ने तो उसी समय अंगनाई में धरना दे दिया कि तब यहां से उठूंगी जब मेरा 'लक्ष्मण जी' मुझे पुनः मिलेगा। सभी भाई बहनें व्याकुल हो गये। उन्होंने महाराज जी का कमरा खोला। वहां उनके आसन पर सिंह चर्म बिछा था। उस शेर के मुंह में से एक कागज का पन्ना लिखा हुआ मिला। खोलने पर उस पन्ने पर ये लाइनें लिखी थीं—"मैं उस बड़े से बड़े परमात्मा की खोज में निकला हूं जिसने सम्पूर्ण ब्रह्मांड की रचना की है। आप सभी मेरी माता को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना।"

२

इस संदेश को पढ़ कर सभी परिवार बिना जल के मछली की भांति तड़प उठा। बिजली की भांति ये समाचार सारे शहर में फैल

गया। पिता जी ने थाने में रिपोर्ट लिखवाई। कई ऊडी की ओर दौड़े। अन्त में 'सोपोर' कसबे से किसी महाशय ने टेलीफोन किया कि आज प्रातः हमने 'लक्ष्मण जू' को साधु-गंगा नामक स्थान की ओर पैदल जाते देखा है। यह समाचार मिलते ही सभी परिवार को सान्त्वना तो मिली किन्तु माता उनको देखने के लिए लालायित हो गई। श्री नारायणदास जी दूसरे दिन ही अपनी अर्धांगिनी को लेकर साधु-गंगा की ओर चल पड़े। जब वहां पहुंचे तो महाराज जी साधु-गंगा के निर्मल चश्मे के किनारे पर ध्यान-मग्न दशा में बैठे थे। कुछ समय के बाद जब आप व्युथान में आये तो माता को चरणों में झुका हुआ देखा और पिता जी को भी पास में बैठे देखा। महाराज जी तनिक गंभीर होकर पूछने लगे कि आप यहां कैसे आये हैं। पिता जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि हम आप को घर ले जाने के लिए आये हैं। महाराज जी ने उत्तर में कहा कि अब हम घर में नहीं रहेंगे। अपने प्रिय पुत्र की दृढ़ वाणी को सुनकर पिता जी ने उनसे प्रतिज्ञा की कि हम तुम्हें घर से दूर मारबल में नवीन मकान बनवा कर देंगे उसी में स्वतंत्र होकर आप रहिए। महाराज जी को यह सुझाव ठीक लगा किन्तु फिर भी उन्होंने कहा कि हम एक दो मास के बाद सीधे नवीन मकान में ही प्रवेश करेंगे। पुत्र के वचन सुन कर श्री नारायणदास जी मन ही मन हर्षित हुए और दूसरे दिन ही घर की ओर चल दिये।

घर पहुंचते ही श्री नारायणदास जी ने शुभ मुहूर्त देख कर अपने मकान की कुछ दूरी पर 'मारबल' नामक स्थान में दो मंजिले का मकान बनाना प्रारम्भ किया।

इधर महाराज जी 'साधु-गंगा' में दर्शनार्थी लोगों तथा भक्त जनों के आने से खिन्न मन रहने लगे। एक दिन मन में विचार आते ही श्रीनगर की ओर चल दिये। प्रथम रामाश्रम में अपने गुरुवर्य श्री महताब-काक जी से मिले। वे अपने तीव्र वैराग्य-सम्पन्न शिष्य को देख कर हर्षित हुए। उन्होंने महाराज जी से कहा कि अभी तो तुम्हारा नया मकान तैयार नहीं हुआ है अतः तुम हारवन से ऊपर चन्दपोरा नामक

गांव में एक दो मास रहो। वहां एकान्त भी है और तुम्हें सेवा करने वाले भक्त भी वहां हैं। गुरुवर्य की आज्ञा को मान कर महाराज जी सीधे चन्दपोरा चले गए। कुछ काल तक तो बात छिपी रही किन्तु सूर्य के उदय होने पर भला कौन प्राणि निद्रा देवी का आश्रय ले सकता है। सारे शहर में महाराज जी के पहुंचने की खबर फैल गई। फल यह हुआ कि लोग प्रतिदिन शहर से दर्शन करने के लिए जाने लगे। कहते हैं उन दिनों ठीक श्री सुकदेव जी की भांति महाराज जी वैराग्य सम्पन्न होकर किसी की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते थे। महाराज जी की पांच बहिनें तथा नाती भी बहुत थे। उन बहिनों में से अपने से बड़ी बहिन जिसका नाम गुणवती था, उसका विवाह श्री जियालाल जी सोपोरी जो उन दिनों के प्रथम कश्मीरी समाज में इंजीनियर थे उनके लड़के जवाहिरलाल जी सोपोरी के साथ हुआ था। उनकी सास जिनका नाम सुश्री राधिकारानी जी था, वह भी दर्शन के लिए चन्दपोरा गईं। उनको देख कर महाराज जी मन ही मन अति प्रसन्न हुए। जो महाराज जी इतने समय से किसी भी संबंधि से वार्तालाप नहीं करते थे वे ही राधिकारानी जी से कुशल-क्षेम पूछने लगे। राधिकारानी जी के हृदय में महाराज जी के प्रति अगाध श्रद्धा तथा शुद्ध स्नेह उमड़ आया। वे सरल हृदया भला क्या समझती थीं कि इस व्यवहार में कितना भावी रहस्य छिपा है। सर्वज्ञ महात्मा तो सभी जानते थे। अतः कुछ देर वहां बैठ कर जब वे चलने के लिए उद्यत् हुईं तो महाराज जी ने पुनः आने के लिये कहा। महाराज जी की आज्ञा को गांठ में बांध कर वह अपने को भाग्यशाली समझ कर वहां से चल दीं। स्मरण रहे कि इन्हीं की कन्या-रत्न सुश्री शारिका देवी जी हैं जिन्होंने आगे जाकर महाराज जी का शिष्यत्व आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी का व्रत पालन करते हुए ग्रहण किया। लगभग चार मास के पश्चात् महाराज जी को नवीन मकान में लाने के लिए श्री नारायणदास जी उनके पास गए। सन् 1929 ईसवी को महाराज जी ने शुभ मुहूर्त के दिन मारबल के

मकान में प्रवेश किया । अब तो महाराज जी स्वतन्त्र रूप से स्वरूप-स्थित होकर इस मकान में रहने लगे । माता जी अपने घर से महाराज जी के लिए बना हुआ भोजन भेज देती थीं । अतः भोजन आदि बनाने का तनिक भी टंटा इस मकान में नहीं रहा ।

इस रूप में रहते हुए महाराज जी को दो तीन वर्ष हो गए । प्रातः चार बजे स्वामी महताबकाक जी के पास जाकर वहां दो तीन घंटे उनकी सेवा आदि करके फिर अपने मकान में आ जाते थे और सारा दिन अभ्यास-परायण रहा करते थे । एक दिन महाराज जी के मन में संकल्प हुआ कि हम नियम-पूर्वक व्याकरण तथा शास्त्र का अध्ययन किसी प्रकांड विद्वान की संरक्षता में करते । आपने इस विचार को अपने परम मित्र श्री दुर्गाप्रसाद जी काचरू से कहा । वे उन दिनों एम. ए. संस्कृत की परीक्षा देने के लिए प्रकांड विद्वान् श्री महेश्वर राजदान जी से पढ़ते थे । ये महेश्वरनाथ जी संस्कृत रिसर्च कार्यालय में मुख्य पंडित थे । अपने मित्र से जो अब तो जीवित नहीं हैं पंडित महाशय की विद्वता की वार्ता सुनकर महाराज जी ने भी उनसे पढ़ने का निश्चय किया । अपने दीक्षा-गुरु श्री महताबकाक जी से वे निःसंकोच ये बात भय के कारण कह न पाये अतः आपने अपने पिता जी से यह बात कही । पिता जी तो प्रसन्न होकर बोले कि हम महेश्वर राज़दान जी को वेतन देकर तुम्हारे पास ही आकर पढ़ाने के लिए प्रार्थना करेंगे । इस भांति श्री महताबकाक जी के कानोंकान यह बात सुनने में नहीं आयेगी । होनहार बालक की उत्कट जिज्ञासा का अनुमान लगा कर पंडित जी ने 'मारबल' में आकर ही पढ़ाना स्वीकार किया । प्रथम दिन जब राजदान जी पढ़ाने के लिए आये तो महाराज जी स्वतंत्र होकर मित्रों के साथ शतरंज खेल रहे थे । एकाग्रता की टेव तो महाराज जी को बचपन से ही थी अतः आप पंडित जी की ओर ध्यान न देकर शतरंज खेलने में ही लगे रहे । पंडित जी ने महाराज जी का जब यह व्यवहार देखा तो जाते हुए यह आधा श्लोक कहा—

'प्रथमे ग्रासे मक्षिका पातः' अर्थात् पहले ही लुकमे में मक्खी आ टपकी। उन्हें जाते हुए देख कर महाराज जी घबरा कर उनके पीछे भागे किन्तु पंडित जी ने गंभीर होकर कहा कि अब हम शुभ मुहूर्त देख कर ही आयेंगे। उस दिन ठीक शिष्य बन कर पढ़ने के लिए तैयार रहना। कुछ दिनों के बाद अध्ययन क्रम-पूर्वक तथा नियत समय पर होने लगा। तीन वर्ष तो केवल संस्कृत व्याकरण का अध्ययन हुआ। उसके बाद त्रिकशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ तन्त्रालोक, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, परात्रिंशिका आदि ग्रंथों का अध्ययन पंडित जी की संरक्षता में ही किया। इस भांति सात वर्ष लगातार इस मारबल के मकान में ही पढ़ते रहे। इन्हीं वर्षों में सन् 1933 में महाराज जी ने पंडित जी की देख रेख में ही श्री अभिनवगुप्त जी की गीता का संकलन करके उसे छपवा दिया। श्री महताबकाक जी को भी अब ज्ञात हो गया कि महाराज जी पंडित जी से पढ़ते हैं। वे भी सुनकर प्रसन्न हुए।



इन्हीं दिनों से कुछ वर्ष पूर्व सुश्री शारिका देवी जी पर-वैराग्य से विवश होकर महाराज जी के पास अभ्यास सीखने के लिए आईं। महाराज जी ने उनकी अवस्था देख कर उन्हें राज-योग का अभ्यास सिखाया। इससे पूर्व वे स्वामी मुक्तानन्द जी से हठ-योग की दीक्षा ले चुकी थीं। ये मुक्तानन्द जी सन्यासी थे और लाहौर में रहने वाले परमहंस श्री नारायणतीर्थ के शिष्य थे। शारिका जी के घर में ये कई वर्षों से आते जाते थे। महाराज जी ने शारिका जी से हठयोग के विषय में अनुभव पूछा तो उन्होंने प्राणायाम के द्वारा पूर्ण एकाग्रता का अनुभव कहा। महाराज जी यह सुनकर प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्हें आजीवन ब्रह्मचर्य को पालन करने की आज्ञा दी। देवी शारिका जी की आयु इन दिनों लगभग पन्द्रह वर्ष की थी। इन्होंने सहर्ष इस आज्ञा को शिरोधार्य किया। इधर देवी जी के पिता श्री जियालाल जी सोपोरी कट्टर आर्य समाजी विचारों के थे। अपनी पुत्री के तीव्र वैराग्य को देखकर कुछ भी न

कर पाये । आश्चर्य तो यह है कि देवी शारिका जी न अपने जीवन काल में कभी भी विवाह न करने का प्रतिरोध नहीं किया है। वह कहती है कि 'हमने जब महाराज जी से दीक्षा ली तो यही कहा कि हमें ऐसा अभ्यास कहिए जिसे मैं गृहस्थ में भी सहज रूप से कर सकूंगी । पर सर्वज्ञ, सर्व-समर्थ गुरु महाराज को देवी जी का भविष्य मालूम था। वह उनकी बात पर हंसे और उन्हें कटि-बद्ध होकर राज-योग का अभ्यास करने के लिए आज्ञा दी । देवी जी के बाल-सुलभ अन्तःकरण तो पहिले ही प्राणायाम से शोधित हुए थे अतः छः सात मास में ही इन्हें स्वरूप-साक्षात्कार का अनुभव हुआ ।

इन दिनों देवी जी अपने घर में ही रहती थीं । अपनी कन्या की अपूर्व वैराग्य-पूर्ण अन्तर्मुखता को देख कर इनके माता-पिता असमंजस में पड़ गये । हार कर वे महाराज जी के पास देवी जी के विवाह के विषय में पूछने गये । महाराज जी ने कहा कि इनका विवाह नहीं होगा। ये तीन जन्मों से बाल-ब्रह्मचारिणी हैं । अतः इनके विवाह का संकल्प ही छोड़ दें ।

इधर देवी शारिका जी गुरु-कृपा से अहर्निश अन्तर्मुख रहने लगीं । इस-के साथ ही वे अपने छोटे भ्राता श्री मोहनलाल जी के साथ हर दूसरे दिन अपने घर से शैव-शास्त्र पढ़ने इसी मारबल के मकान में आया करती थीं । एक दिन महाराज जी ने मोहनलाल जी से कहा कि हम तीनों एक सप्ताह के लिए 'गोपीतीर्थ' नामक स्थान में जा कर रहेंगे । यह स्थान निशातबाग से ऊपर पहाड़ी पर है । वहां श्री महताबकाक जी भी रहने के लिए जाया करते हैं। तुम पिता जी की अनुज्ञा प्राप्त करके देवी शारिका जी को साथ लेकर मेरे साथ चलो । दिन निश्चित हुआ अतः तीनों गोपीतीर्थ में रहने के लिए गये । देवी शारिका जी की छोटी बहिन प्रभा भी संग गई । नौकर तथा तंबू भी साथ में थे । महाराज जी ने यहां अपने अभ्यास का नियत समय रखा । रात के दो बजे ही वे देवी जी तथा मोहनलाल जी को अभ्यास

करने के लिए जगाया करते थे। प्रातः छः बजे तक तीनों मूर्तियां अभ्यास-परायण रहते थे। एक दिन अति अनोखी तथा असामान्य घटना घटी। रात के सात बजे शारिका जी गुरु महाराज के लिए रसोई वाले तम्बू से भोजन ला रही थीं। भोजन की थाली रखने के समय महाराज जी ने देवी शारिका जी से अभ्यास के विषय में सचेत किया। महाराज जी की वाणि में न मालूम क्या जादू भरा था। कहने की देर ही थी कि शारिका जी ने केवल थाली सामने रखी और स्वयं लौटते हुए इनका मन, पर-वैराग्य के रंग में रंगा गया। फल यह हुआ कि ये वृक्ष की ओट में पद्मासन लगाकर बैठ गईं और खूब छमाछम आंसू स्वयं बहने लगे। महाराज जी ने इनकी दशा देखकर शीघ्र भोजन समाप्त किया और स्वयं इनके सामने चारपाई पर पद्मासन लगा कर बैठ गए। रात्रि के सात बजे से लेकर प्रातः चार बजे तक देवी जी अनथक रूप से आंसू बहाती रहीं। रात्रि की इस अपूर्व अवधि में देवी जी विचित्र अनुभवों का रसा-स्वादन गुरु-कृपा से कर रही थीं। वह कभी तो आनन्द परायण अवस्था को पाकर मुख से गुरु महाराज से कहती थीं कि मैं आजीवन इसी आनन्द का अनुभव करती रहूं। श्री मोहनलाल जी ने इस लीला को स्वयं देखा है वह कहते हैं कि देवी शारिका जी से महाराज ने कई वर मांगने के लिए कहे। स्वयं उन्हें कहते थे कि इस प्रकार वर मांगो और स्वयं 'तथास्तु' कह देते थे। एक वर यह भी मांगने के लिए कहा कि तुम आजीवन मेरे साथ साथ ही रहो। गुरु-शिष्य की यह आश्चर्यमय लीला देख कर मोहनलाल जी घबरा गये। इधर देवी जी के एक नेत्र में सारी रात रोने से सफेदी भी हो गई थी।

अब तो मोहनलाल जी घबरा गये। उन्होंने महाराज जी से देवी जी के ठीक होने की प्रार्थना की। वे भला बचपन के कारण क्या जानते थे कि देवी जी किस अलौकिक आनन्द का अनुभव कर रही हैं। महाराज जी ने भी उचित समझा कि ये अब व्युथान में आनी चाहिए। अतः वे देवी जी को गोपीतीर्थ के चश्मे पर इसी अवस्था में हाथ पकड़ कर ले गए

और वहां स्वयं इन्हें नहलाया। नहाने की देर थी कि देवी जी उस अवस्था से निकल कर व्युथान में आ गईं। सभी पदार्थ जो उस परमानन्द में सने दिखाई देते थे अब शुष्क तथा जड़ दिखाई देने लगे। अपनी इस जीव दशा को देख कर वह पुनः बिलख-बिलख कर आंसू बहाने लगीं। महाराज जी के चरण छूकर अपनी अवस्था को लौटाने की प्रार्थना की। तब महाराज जी ने उनसे कहा कि तुम्हें अभी काफी पढ़ना है अतः तुम्हारी यह अवस्था तुम्हें अन्तिम जीवन में पुनः प्राप्त होगी। महाराज जी ने बात तो कह दी पर देवी जी परमानन्द से विमुख होने के कारण उन्मत्त सी हो गईं। अब तो महाराज जी ने घर जाना ही उचित समझा। दिन के दो बजे अपना सभी सामान लेकर महाराज जी तांगे में बैठ कर देवी जी, मोहनलाल जी तथा प्रभा को लेकर उनकी घर की ओर चले। मार्ग में देवी जी ने विवशता के कारण उन्मतत्तावस्था में महाराज जी से रोष-पूर्ण होकर अपनी उसी अवस्था के लिए अनाप-शनाप कहा। तब महाराज जी ने तांगे की अगली सीट से पीछे की ओर जब दृष्टि डाली तो इनके सिर पर जटाजूट, गंगा का प्रवाह तथा गले में सांपों की माला का प्रत्यक्ष दर्शन मोहनलाल जी तथा देवी जी ने किया। फिर तो देवी जी एकदम चुप होकर अभ्यास करने लगीं।

जब घर पहुंचे तो देवी जी के माता-पिता अति व्याकुल हो गए। महाराज जी ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि ये पुनः ठीक हो जायेंगी। ठीक दो वर्ष के बाद देवी जी गुरु कृपा के फल-स्वरूप स्वस्थ होने लगीं। अब तो महाराज जी ने विचारा कि देवी जी आजीवन घर में नहीं रह पायेंगी अतः उन्होंने ईश्वर-पर्वत के दामन में जमीन खरीदी। देवी जी के पिता जी ने भी महाराज जी के कहने के अनुसार अपनी कन्या के लिए उनके निकट ही भूमि खरीदी। एक वर्ष तक ही आमने सामने दो सुन्दर मकान बन गए। सन् 1934 ई० में गुरु और शिष्य दोनों ने शास्त्रानुकूल जप यज्ञ करने के बाद अपने अपने मकानों में रहना प्रारम्भ किया। यहां नियम पूवक अभ्यास तथा शैव-शास्त्रों को पठन पाठन का

कार्य चलता रहा। इतना ही नहीं दोनों गुरु तथा शिष्य अभ्यास करने के बाद ही नित नये पारमार्थिक अनुभवों का आनन्द लेने लगे। लोग भी दर्शनों के लिए आने लगे। जिस मकान में महाराज जी रहते थे इसका नाम ईश्वर-आश्रम रक्खा गया। देवी जी महाराज जी को ईश्वर-स्वरूप कहा करती हैं अतः आश्रम का नाम भी ईश्वर-आश्रम ही रहा। आश्रम का ढांचा बनने से कई सन्त भी आकर रह जाते थे। दोनों के माता-पिता अपने संतानों के पास रहने लगे। इन दोनों आश्रमों का रूप सन्तों के यातायात से जहां महात्माओं का केन्द्र दिखता था वहां माता-पिता के आने जाने से गृहस्थियों का अड्डा भी बन गया था। फल यह हुआ कि महाराज जी मन ही मन उदास रहने लगे। इस मानसिक विक्षेप को दूर करने के लिए आप दो तीन महीने एकान्तवास करने लगे। इस अवधि में आप शारिका देवी जी के बिना किसी से न मिलते थे। देवी जी भी दिन में दो बार भोजन तथा चाय पिलाने के समय जा पाती थीं। रात्रि में केवल दूध का सेवन किया करते थे। सन् 1940 ई० में महाराज जी अपने मारबल के मकान में चार मास के लिए मौनव्रत में रहे। संपूर्ण तन्त्रालोक का अभ्यास तथा अध्ययन नियम पूर्वक करते थे। एक दिन रात के दो बजे अभ्यास करते करते महाराज जी को षट्-चक्र भेदन का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। महाराज जी कहते हैं कि यह चक्र बहुत अराओं से युक्त हैं। एक चक्र के चलने के साथ ही दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां तथा छठा चलने लगता है। कई योगियों को तो पहिले मस्तक में स्थित चक्र ही चलने लगता है तब नीचे के चक्र चलते हैं। इस छट्-चक्र भेदन को शास्त्रों ने पैशाच' आवेश का नाम दिया है। यह अवस्था योगी के लिए विघ्नों का सूचक है। वास्तव में मूलाधार से ऊपर की ओर छट्-चक्र-भेदन का होना अष्टसिद्धियों की प्राप्ति का सूचक होता है। आनन्द में आकर महाराज जी ने स्वयं इस अवस्था का निर्णय किया है।

प्रायः जब भी महाराज जी मौन व्रत में बैठते थे तो किसी न किसी संबन्धि या मित्र की मृत्यु हो जाती थी। सन् 1943 ई० में महाराज जी

अपने आश्रम में मौन-व्रत में बैठे थे तो अकस्मात् महाराज जी की छत पर उल्लू बड़े भयंकर शब्दों में चिल्लाने लगा। महाराज जी बड़े घबरा गए। रात्रि के ग्यारह बजे शहर से एक व्यक्ति आये और उन्होंने श्री स्वामी महताबकाक जी के स्वर्गारोहण का समाचार कहा। देवी जी ने महाराज जी से जब यह बात कही तो वे उसी समय कमरे से बाहर आये और श्री-नगर की ओर रात्रि को ही चल दिये। प्रातः चार बजे जब महाराज जी रामाश्रम में पहुंचे तो अपने सर्वस्व गुरु महाराज को मृत्यु शय्या पर देख कर बच्चों की भांति रो पड़े। ढाढस बांध कर सभी ब्राह्मणों, विद्वानों को लाकर दिन के दो बजे अपने गुरु महाराज को अपने कंधों का सहारा देकर बड़े समारोह के साथ श्मशान की ओर ले चले। फतेकदल से श्मशान तक लोगों का कीर्तन, फूलों की वर्षा तथा बैंड बाजों का शब्द अनथक रूप से चलता रहा। इस भांति विधिपूर्वक दाह-संस्कार करके जब महाराज जी आश्रम लौटे तो आप को एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का बोझ अपने में अनुभव होने लगा। श्री महताबकाक जी के श्रीचरणों को हृदय में रखकर महाराज जी ने बहुत समारोह से और्ध्वदैहिक कर्म गुरु महाराज का किया।

देवी शारिका जी के पास यदा-कदा उनकी छोटी बहिन प्रभा आती रहती थीं। अतः स्वभावतः महाराज जी के पास उठना बैठना भी भाग्यवश हो ही जाता था। ये सर्वज्ञ सन्त उसे तन्त्रालोक के कई श्लोक कंठस्थ करवाते थे और विवाह न करने के लिए समझाते थे। प्रभा अपनी बाल-सुलभ बुद्धि से कह देती थीं कि मैं देवी शारिका जी की भांति कायर नहीं हूं। मैं तो विवाह करूंगी और उससे प्राप्त सुख-दुःख का स्वागत भी हर्ष-पूर्वक करूंगी। यह उत्तर सुन कर महाराज जी हंस दिया करते थे। इस सभी व्यवहार में भविष्य का कितना गूढ़ तत्व छिपा था इसको भला महाराज जी के बिना कौन समझ पाता।

सन् 1942 ई० में प्रभा का विवाह बड़ी धूमधाम से हुआ। महा-राज जी भी इस विवाह में उपस्थित थे। कहते हैं जिस समय अग्नि के सामने बैठकर श्री जियालाल जी कन्या का दान कर रहे थे तो महाराज

जी ने बड़े धीमे से स्वर में मोहनलाल जी से कहा कि यह दान तो पुनः लौट कर आयेगा। इस कहने का तात्पर्य मोहनलाल जी तो समझे नहीं। फल यह हुआ कि सन् 1944 ई० में प्रभा के पतिदेव का अकस्मात् निधन हुआ। सभी परिवार अति दुःखी हुआ। बीस वर्ष की कन्या पर दुःख का पर्वत आ जाने से माता पिता दुविधा में पड़ गये। उन पर दयालुता प्रकट करते हुए महाराज जी ने उन्हें धैर्य बंधाते हुए कहा कि यह भी अपनी मनस्वी बहिन के साथ रह कर जीवन का उद्धार करेगी। सन् 1945 ई० में महाराज जी ने प्रभा को शैवी अभ्यास सिखाने का अनुग्रह किया और साथ ही शैव-शास्त्र का पढ़ाना भी प्रारम्भ किया। अब तो दोनों बहिनें गुरु महाराज की छत्र-छाया में रह कर ईश्वर का भजन करने लगीं। इस भांति अपनी अपूर्व दया से प्रभा का उद्धार भी महाराज जी ने प्रत्यक्ष रूप से किया। वास्तव में सन्त त्रिकालदर्शी होते हैं। इनके रहस्य का मर्म कौन जान सकता है।

एक बार अपने आश्रम में ही महाराज जी ने अपनी माता जी के मुख से कुछ इधर उधर की बात सुनी। महाराज जी का मन सम्पूर्ण संपत्ति से विरत हो गया। आप ने उसी क्षण देवी शारिका जी को अपने मकान से बुलवाया। दोनों बहनें जब गुरु महाराज के पास आई तो आपने अलौकिक वैराग्य-पूर्ण नेत्रों से दोनों की ओर देखा। इस समय दिन के दो बजे थे। महाराज जी ने देवी जी से कहा कि हम अपनी सभी सम्पत्ति तुम्हारे नाम करवा कर स्वयं विरक्त रूप में रहकर कालयापन करेंगे। हम इसी समय शहर जाकर इस सम्पूर्ण जायदाद की रजिस्ट्री तुम्हारे नाम कर देंगे। महाराज जी के मुख से ऐसे मर्माहत शब्द बनकर दोनों बहनों ने अनुनय विनय की कि आप भले ही अपनी सभी सम्पत्ति अपने भाइयों को दे दीजिए पर आप आश्रम को छोड़ कर न जाइए। महाराज जी ने उनकी बातों पर तनिक भी ध्यान न दिया और शहर की ओर चल दिये। वे सीधा देवी शारिका जी के घर उनके पिता जी के पास गये। वहीं उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति देवी जी के

नाम की। स्वर्गीय जियालाल जी ने प्रार्थना पूर्वक यह परामर्श दिया कि आप इस विल में यह वाक्य अवश्य लिखें कि हम जब चाहें तो यह लगभग चार लाख की सम्पत्ति पुनः वापिस भी ले सकते हैं। इस वाक्य को लिखना पहले तो महाराज जी ने न माना किंतु फिर पिता जी के अनुरोध करने पर यह वाक्य लिख दिया।

इधर चार पांच दिनों के बाद जब महाराज जी आश्रम में आये तो देवी शारिका जी की दशा अति शोचनीय हो गयी थीं। वे तो ठीक उस सर्प की भांति हो गई थी जिस की मणि को छीन कर सदा के लिए परतन्त्र बना दिया जाता है। उनकी व्याकुलता का अनुमान लगा कर महाराज जी ने एक महीने के बाद ही शारिका जी को न्यायाधीश के सम्मुख ले जाकर सभी सम्पत्ति लौटाने के लिये हस्ताक्षर करवाये। देवी जी भी यही चाहती थीं। वे तो परमार्थ-धन की इच्छुक थी अतः उन्होंने सहर्ष हस्ताक्षर कर दिये और अब वे पूर्ववत् अपने मकान में अभ्यास-परायण होकर रहने लगीं।

सन् 1946 ईसवी में ईश्वर-स्वरूप जी की माता जी बीमार हो गयीं। वह लगभग दो वर्ष तक रोग शैय्या पर पड़ी रहीं। ई० सन् 1948 में जेठ शुक्ल पक्ष सप्तमी को माता जी का देहान्त आश्रम में ही हुआ। अर्थी को शहर लाया गया और वहीं विधि-पूर्वक दाह संस्कार किया। औध्र्वदैहिक कर्म भी भली भांति महाराज जी ने किया। माता जी के देहान्त के ठीक छः मास के बाद पौष शुक्लपक्ष प्रतिपदा को नारायणदास जी का भी देहावसान हुआ। इस भांति महाराज जी दोनों का श्राद्ध-कर्म नियम-पूर्वक वर्ष भर करते रहे।

माता-पिता के स्वर्ग सिधारने के बाद महाराज जी आश्रम में पूर्ण योगियों की भांति रहने लगे। नियमपूर्वक देवी शारिका जी तथा प्रभा को अभ्यास का समय दिया करते और शैव शास्त्र का अध्ययन भी करवाते थे। दिन को दर्शक जन दोनों महान सन्तों के दर्शन करने आया करते थे। इन्हीं दिनों सुप्रसिद्ध श्री मेहरबाबा भी एक बार अपने सभी

शिष्यों सहित महाराज जी से मिलने आये पर भाग्यवश महाराज जी उनसे न मिले। अन्त में महाराज जी को उनसे न मिलने का पश्चात्ताप मन ही मन हुआ।

सन् 1950 ई० में फ्रांस से डा० सिलवर्न जो संस्कृत भाषा जानती थीं, महाराज जी से शैव-शास्त्र पढ़ने के लिए आईं। कई वर्ष उन्होंने महाराज जी से शैव-शास्त्र के मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का अध्ययन किया। बाद में उन ग्रन्थों का उल्था उन्होंने फ्रेन्च भाषा में किया।

स्वामी नीलकंठानन्द सरस्वती जो आजकल हृषीकेश में रह रहे हैं। वे वेदान्त शास्त्र के पारंगत माने जाते हैं। वे भी इस आश्रम में आकर ब्रह्म-सूत्र का अवलोकन किया करते थे। इस भांति इस आश्रम में शास्त्रों का पठन-पाठन रहा ही करता था। श्री ठाकुर जयदेवसिंह जी ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' का अवलोकन महाराज जी की संरक्षता में किया। कई वर्षों में उन्होंने शैव-शास्त्र के ग्रन्थ पढ़े और फिर उनका उल्था अंग्रेजी भाषा में किया। उनका प्रथम ग्रन्थ 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' 1973 में छप कर महाराज जी को भेंट के रूप में मिला।

एक और बात महाराज जी के विषय में कहनी महत्व रखती है। बाल्यकाल से महाराज जी का जन्मोत्सव बड़े समारोह तथा उत्साह से मनाया जाता रहा है। माता-पिता के समय तो वे अपने संबन्धियों तथा इने गिने शिष्यों को न्योता देते थे। पर जब से महाराज जी ने स्वयं इस दिन की बाग डोर अपने हाथ में ली तब से अनेकों व्यक्ति भोजन ग्रहण करने के लिये आश्रम में आते हैं। सम्पूर्ण जनता के भोजन का प्रबन्ध महाराज जी स्वयं करवाते हैं। प्रातःकाल शिष्य महाराज जी की पूजा तथा गुरु-स्तुति जिसे प्रकांड विद्वान् मिथिला निवासी श्री रामेश्वर जी झा ने रचा है, पढ़ते हैं। उस समय महाराज जी ध्यानावस्था में दो तीन घन्टे बैठे रहते हैं। सैकड़ों फूलों की मालायें महाराज जी को पहनाई जाती हैं। अब तो यह दिन तथ्य रूप में एक पर्व माना जाता है।

हम पूर्व कह आये हैं कि जनता का यातायात होने से महाराज जी का मन ऊब गया था। सम्पूर्ण जायदाद की देख रेख से भी महाराज जी

उकता से गए थे । इधर देवी जी भी नवीन बहिमु ख शिष्यों तथा शिष्याओं के आने से तंग आ गई थीं । अतः निश्चय यह हुआ कि दोनों मकानों को बेच कर सड़क के किनारे छोटा सा एक ही मकान बनाया जाये । जहां शान्तिपूर्वक जीवन के शेष दिन व्यतीत किये जायें । शुद्ध-संकल्प के आते ही प्रभु ने आप दोनों का मकान बिकवा दिया । सन् 1961 में संपूर्ण आश्रम की ज़मीन बिक गयी । निशात तथा ईशवर नामक गांव के बीच में नवीन ज़मीन खरीदी गई । वहां अपनी आवश्यकता के अनुसार छोटा सा मकान तथा थोड़ी भूमि वाटिका के रूप में रक्खी गई । सन् 1962 ई. में इस नवीन आश्रम में महाराज जी ने बड़े समारोह से प्रवेश किया । यहां यह नियम रखा गया कि जनता रविवार के दिन आकर जहां दर्शनों का लाभ उठायेगी वहां शैव-शास्त्र का अध्ययन भी करेगी । देवी शारिका जी व लेखिका को यहां रहने की सहर्ष अनुमति दी । सेवक गोपीनाथ जो लगभग पैंतीस वर्ष सेवा करता रहा वह भी आश्रम में ही रहता रहा । सन् 1985 में गोपीनाथ स्वर्ग सिधार गया । इस भांति अभी तो महाराज जी इसी आश्रम में रह रहे हैं । सन् 1982 में महाराज जी को एकदम दिल का दौरा पड़ा । डाक्टरों ने पेसमेकर लगाने की आज्ञा दी अतः दिल्ली जाकर पेसमेकर लगवाया गया । वहां से आकर महाराज जी के मन में विचार आया कि आश्रम में ही एक मन्दिर बनवाया जाये । 1983 में आश्रम का उद्घाटन बड़े उत्साह तथा हर्ष से हुआ । तब से रोज़ प्रातः महाराज जी मन्दिर में जाकर अमृतेश्वर भैरव की पूजा करते हैं । इस के बाद 1984 में अपने आश्रम के अहाते में ही एक सत्संग हाल बनवाया । सभी शिष्य तथा शिष्यायें यहां आकर सत्संग का लाभ उठायें इसी प्रयोजन से इस हॉल का निर्माण हुआ है ।

अब तनिक महाराज जी के स्वभाव का दिग्दर्शन-मात्र कराना भी समीचीन प्रतीत होता है । सच पूछो तो हमारे गुरुदेव एक अलौकिक देवता है । यदि परमार्थिक दृष्टिकोण से उनको परखा जाए तो वे अनूठे एवं पहुंचे हुए योगी दीखने में आते हैं । इनका अनुभव तथा अभ्यास अपनापन लिये है । सदा सजग तथा चेतन रहना ही इनका निजी स्वभाव

है । सजगता की भित्ति पर टिक कर ही सभी जागतिक व्यवहार स्वयं करते हैं और शिष्यों से करवाते हैं । किसी भी शिष्य को बिना काम के बैठने नहीं देते । शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध से वे उस मधुप की भांति अपना पारमार्थिक रस निकाल लेते हैं जिस का भान भी शिष्य को नहीं होता । इनका हृदय अथाह है । इनका स्वभाव विचित्र है । इनमें अशम के समान कठोरता तथा शिरीष फूल के समान कोमलता है । जहां इनमें भगवान शंकर के समान संहार करने की शक्ति है वहां भगवान विष्णु के समान दयालु तथा रक्षा करने की भावना भी विराजमान है । शांति तथा धैर्य में यह पृथ्वी के समान दीखते हैं पर दूसरी ओर कालाग्नि रुद्र के समान क्रोध भी भरा पड़ा है । पर स्मरण रहे कि उस क्रोध के पीछे भी एक सत् भावना का सामंजस्य बना रहता है । अनुभव में यही बात दीखती है कि हमारे गुरु महाराज का स्वभाव ठीक एक कठिन एवं दुष्कर पर्वत के समान है, जिस पर चढ़ने के समय अनेकानेक ऊबड़-खाबड़ घाटियों और बीहड़ जंगलों में से विचरण करना पड़ता है । कभी तो अनेकों क्रोध रूपी हिंस्र जन्तुओं के दर्शन करने पड़ते हैं और कभी दयालुता रूपी निर्मल तथा पवित्र जल स्रोतों को देखने का समय मिलता है । कभी तो प्रेम और स्नेह की ऊंची चट्टानों के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है । और कभी सामान्य रूपतया समतल भूमि पर विहार करने लगता है । आजीवन महाराज जी की छत्र-छाया में रह कर भी अनुभव ऐसा होता है कि हम कुछ समय से ही इनके पास रह रहे हैं । सदा अन्तर्मुख रहने से शिष्य जब इनका पल्ला नहीं छोड़ सकते । शिष्य यही मन से चाहते हैं कि इनके पास ही बैठे रहें । महाराज जी का स्वभाव ठीक श्री गीता जी के इस निम्न श्लोक का प्रतीक दिखता है :—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।

अन्त में हम तो यही कहेंगे कि अभी भी न-मालूम भविष्य के गर्भ में अभी क्या देखना बचा है यह तो भगवान् शंकर ही जानते हैं ।

।। ओउम् तत् सत् ।।